लोकतंत्र के मद्देनज़र समाज की सदाएँ

कुँवर प्रांजल सिंह

विख्यात राजनीतिक-समाजशास्त्री डी.एल. शेठ (धीरूभाई शेठ) की रचना *एट होम विद डेमॉक्रैसी : अ थियरी ऑफ़ इंडियन पॉलिटिक्स* भारतीय लोकतंत्र के सिद्धांत तथा व्यवहार में समाज की भूमिका का आकलन पेश करती है। यह लोकतंत्र को मानक बिंदु मान कर समाज, राजनीति, सत्ता के प्राधिकार तथा वैधता के सवाल पर एक चतुर्भुज खींचती है। सामयिकता की दृष्टि से देखें तो इस पुस्तक के अध्याय कुछ पुराने मालूम पड़ते हैं, लेकिन इसके बावजूद उनसे समाज के वर्तमान कोलाहल को समझने की दृष्टि मिलती है। अगर लोकतंत्र की सैद्धांतिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, राष्ट्र की कल्पना में समाज की हिस्सेदारी और उसकी विविधता का आकलन किया जाए तो दो बातें साफ़ समझी जा सकती हैं। एक, पुस्तक राजनीतिक समाजशास्त्र की पद्धति से जुड़ी है जो समाज और राजनीति के बीच अन्योन्यक्रिया का मार्ग प्रशस्त करती है। दो, पुस्तक में भारतीय राजनीतिक सिद्धांत के प्रयोग का दावा किया गया है। यह सिद्धांत सामाजिक व्यवहार से गुज़रते हुए राजनीतिक प्रतिक्रिया तथा समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया का जायज़ा लेता है।

वस्तुत: पीटर डिसूज़ा ने इस पुस्तक की प्रस्तावना में पुरानी बातों को नये ढंग से कहने का प्रयास किया है। इस प्रस्तावना में वे सामाजिक बदलावों तथा राजनीति की अन्योन्यक्रिया को नये उदाहरणों के साथ पेश करते हैं। पुस्तक की वर्तमान प्रासंगिकता का एक सिरा इसी प्रस्तावना से जुड़ा है। स्पष्टता
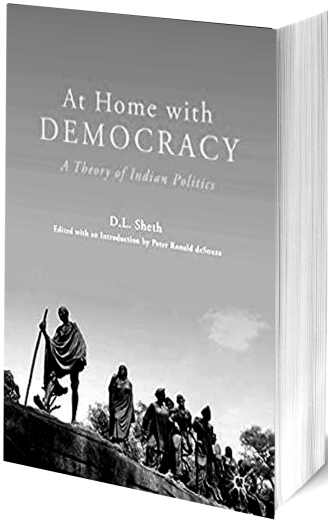
एट होम विद डेमॉक्रैसी : अ थियरी ऑफ़ इंडियन पॉलिटिक्स *(2018)*
डी.एल. शेठ, (सं.) पीटर रोनॅल्ड डिसूज़ा
पालग्रेव मैक्मिलन,
पृष्ठ : 312, किंडल संस्करण : 1,164.70 रु.

के लिए पीटर द्वारा लिखी गयी प्रस्तावना को तीन भागों में बाँट कर देखा जा सकता है।[1] प्रथम भाग लोकतंत्र के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के दोहरे जुड़ाव पर आधारित है। एक ओर इसमें इतिहास को दार्शनिक आयामों से जोड़ते हुए लोकतंत्र के वैश्विक तात्पर्य की तरफ़ इशारा किया गया है, [2] तो दूसरी ओर इतिहास का आकलन करने के लिए उस समकालीन साम्प्रदायिक अनबन की शिनाख़्त भी की गयी है जो समुदायों के बीच पारस्परिक राजनीतिक अविश्वास के कारण पैदा होती है। दूसरा भाग भारतीय राजनीतिक सिद्धांत से जुड़ा हुआ है। यह सिद्धांत लोकतंत्र को समतावादी परिप्रेक्ष्य में रखकर देखता है। तीसरा भाग सिद्धांत के सवालों से रूबरू होता है। पीटर डिसूज़ा द्वारा उठाए गये सवाल बेहद दिलचस्प हैं : भारत के साथ लोकतंत्र क्या कर रहा है और लोकतंत्र के साथ भारत क्या कर रहा है? यह सवाल स्वयं में जाति, राष्ट्र-निर्माण, तथा राष्ट्रवाद व साम्प्रदायिकता को भी सम्बोधित करता है। इस संबंध में पीटर डिसूज़ा पाँच परिकल्पनाएँ पेश करते हैं। इनमें पहली परिकल्पना, भारतीय राजनीतिक सिद्धांत के उस इतिहास और अनुप्रयोग से जुड़ी है जो संस्था, प्रतिनिधित्व और विचार को वैधानिकता प्रदान करने के लिए क्रियाशील रहती है। दूसरी परिकल्पना आंदोलन के परिप्रेक्ष्य से वास्ता रखती है। उल्लेखनीय है कि इस पुस्तक का केंद्रीय हिस्सा भी आंदोलन और एक्टिविज़म की पड़ताल करता है। तीसरी परिकल्पना सिद्धांत के स्तर पर लोकतांत्रिक राज्य के आधुनिक पक्ष तथा लोकतांत्रिक किरदारों के बीच घूमती है।[3] चौथी परिकल्पना अभिजन समूहों में सत्ता की जागरूकता पर दृष्टिपात करती है। और अंतिम परिकल्पना नीतियों के सामाजिक पक्ष और आरक्षण की भूमिका की विवेचना करती है।

उपरोक्त बहसों और परिकल्पनाओं पर विचार करने के लिए प्रस्तुत समीक्षा लेख को छह भागों में विभक्त किया गया है। पहले भाग में सत्ता और समाज के संदर्भ में लोकतंत्र का विश्लेषण किया जाएगा जो इस पुस्तक का केंद्रीय घटक भी है। दूसरे भाग में, समाज और सामाजिकता के बीच लोकतंत्र के रिश्तों की पड़ताल की जाएगी। उल्लेखनीय है कि इस संदर्भ में धीरूभाई ग्रासरूट आंदोलन को मुख्य किरदार मानते हैं। तीसरे भाग में, लोकतंत्र का तितरफ़ा अंतर्द्वंद्व— राजनीतिक प्राधिकार, वैधता और स्वायत्तता के बीच दर्शाया गया है। चौथा भाग लोकतंत्र के परिवर्तित स्वरूप— नागरिक समाज के अवलोकन से संबंधित है। पाँचवाँ भाग समाज तथा सामाजिकता के साथ लोकतंत्र की अन्योन्यक्रिया का आकलन पेश करता है। इसके अंतिम भाग में विवेचनात्मक निष्कर्ष की कुछ खूबियों और ख़ामियों का जायज़ा लिया जाएगा।

[1] पुस्तक की प्रस्तावना को तीन भागों में विश्लेषण के आधार पर विभक्त किया गया है, यह विभाजन किसी भी प्रकार से स्थायी मानदण्ड का दावा नहीं करता, लेकिन महत्त्वपूर्ण विमर्शों के क्रम को समझने का परिप्रेक्ष्य अवश्य मुहैया करता है.

[2] धीरूभाई शेठ (2018) : 7.

[3] धीरूभाई शेठ (2018) : 13.

राजनीतिक आकलन का सूत्र आज़ादी के संघर्षों में खोजने के बजाय वर्तमान की सामाजिक संरचना के आंतरिक परिवर्तन तथा बाज़ारवाद के सांस्कृतिक नतीजों पर ज़्यादा ध्यान दिया जाना चाहिए। धीरूभाई के अनुसार लोकशाही समाज की हर समस्या का निवारण नहीं कर सकती। ... लोकतंत्र के विश्लेषण हेतु इतिहास के क़सीदे पढ़ने से बेहतर यह होगा कि हम लोकतंत्र की हक़ीक़त को सामाजिक परिवर्तन के कोण से परखें क्योंकि अभी तक हम लोकतंत्र और आज़ादी के आपसी संबंधों का पर्याप्त निरूपण नहीं कर पाए हैं।

लोकतंत्र : सत्ता और समाज[4] के बीच

लोकतंत्र की आमफ़हम परिभाषा में उसे चुनावी प्रक्रिया, मतदान के प्रतिशत और सरकार के बनने-बिगड़ने तक ही सीमित कर दिया गया है, लेकिन धीरूभाई लोकतंत्र को सामाजिक संरचना की अन्योन्यक्रिया के नतीजे के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे उसकी ज़मीनी हक़ीक़त को उन आंदोलनों के ज़रिये समझते हैं जो परिवर्तनकारी राजनीति के चालक के तौर पर समाज की आंतरिक संरचना तथा मुख्यधारा की राजनीति से दो-चार होते हुए क्रियाशील रहते हैं। ग़ौरतलब है कि मुख्यधारा की राजनीति में विकास के दावे महज़ एक राजनीतिक लफ़्फ़ाजी का दामन पकड़े हुए हैं। और, वास्तविकता यह है कि राज्य के पास विकास की अवधारणा के लिए भारतीय अनुभव तथा विकास के ख़िलाफ़[5] किये जा रहे ज़मीनी संघर्ष को समझने और परखने की कोई दृष्टि नहीं बची है। लेखक स्वयं मानते हैं कि विकास एक ऐसे सांख्यिकीय लबादे के भीतर क़ैद है जिसे ग्रामीण परिवेश की परम्परागत आर्थिक आत्मनिर्भरता को नज़रअंदाज़ करते हुए सेक्टोरल विकास का हिस्सा बना दिया गया है।[6] इस नाफ़रमानी के ख़िलाफ़ ग्रामीण बाशिंदों में संघर्ष करने तथा सामाजिक संरचना एवं समाज के आधार पर प्रतिरोध करने की सक्रियता बढ़ी है। इनमें पहले स्थान पर आम नागरिकों में फैला व्यापक असंतोष आता है। यह व्यापक असंतोष आम नागरिकों की भूमिका से जुड़ा हुआ है; जो मुख्यधारा के राजनीतिक दलों का चुनावी चारा बनने की अपनी भूमिका से ऊब चुके हैं। इस ऊब में राजनीति के प्रति उदासीनता और नापसंदगी से लेकर आधुनिक शासन की संस्थाओं के प्रति अंध और उग्र विरोध तक शामिल है। साथ ही यह नागरिक स्वतंत्रता और मानवाधिकार आंदोलन में भी सक्रिय है, जो महिलाओं, अल्पसंख्यकों आदि जैसे विभिन्न जन समूहों को किसी राष्ट्र राज्य के भीतर बुनियादी अधिकारों से वंचित रखने के लिए दी जाने वाले राष्ट्रीय सम्प्रभुता और सांस्कृतिक सापेक्षता के तर्कों पर सवाल खड़ा करता है।[7] लेकिन आज हमारे समक्ष यह सवाल बाँहें फैलाए खड़ा है कि अल्पसंख्यकों, आदिवासियों और दलितों पर हो रहे बेवजह के हमलों और सामाजिक ताने-बाने से खेलती सियासत के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलंद करने वाले स्वर न जाने कहाँ बिला गये हैं। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि ज़मीनी स्तर के संघर्षों में सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता मुहम्मद अख़लाक की हत्या या फिर रोहित वेमुला की आत्महत्या जैसी घटनाओं के राष्ट्रीय या बड़ी राजनीति का हिस्सा बनने का इंतज़ार कर रहे हों, या लोकतंत्र में इस प्रकार की घटना अब आम हो गयी हो।

---

[4] सत्ता और समाज के बीच संबंधों की लम्बी बहस एक सह-ज़िल्द के तौर पर धीरूभाई शेठ तथा अभय कुमार दुबे द्वारा सम्पादित हो चुकी है. इस बहस की दिलचस्प पेशकश यह है कि समाज को समझने का तरीक़ा— 'समाज क्या है?' से नहीं बल्कि समाज के भीतर चलने वाली संरचनात्मक प्रक्रिया तथा उसके व्यवहार से समझा जाना चाहिए. देखें, अभय कुमार दुबे (2009). मैं यह मानता हूँ कि धीरूभाई की विवेच्य पुस्तक अभय कुमार दुबे तथा शेठ की पुस्तक का दूसरा भाग है.

[5] विकास के विरोध का अभिप्राय उसके भौतिकवादी पक्ष से है, जिससे आदिवासी पलायन, क़र्ज़ माफ़ी के बावजूद किसानों के हाहाकार तथा आत्महत्या की घटना जुड़ी हुई है.

[6] धीरूभाई शेठ (2018) : 99.

[7] वही : 87-99. साथ ही देखें, अभय कुमार दुबे (2009) : 426-427.

इस पुस्तक में ऐसे बिंदुओं को शामिल नहीं किया गया है। दूसरी ओर यह ज़रूरी नहीं है कि लोकतंत्र को हमेशा राजनीतिक क़यासों में देखा या परखा जाए। बल्कि इसे समाज और सामाजिकता के बीच रख कर देखने की ज़रूरत है। वर्तमान में इस पक्ष की शिनाख़्त करना आवश्यक है कि समाज राजनीतिक हितों से संचालित हो रहा है या अपनी अंदरूनी गतिकी से चल रहा है। यह दोहरा सवाल धीरूभाई की रचना में भी अनुपस्थित है। हालाँकि पुस्तक, समाज और सत्ता के बीच काम करने वाले ज़मीनी आंदोलनों के मायने पर विश्लेषण प्रस्तुत करती है, लेकिन उसमें समाज द्वारा आंदोलन करने के पहले के पक्ष तथा उसके बाद के परिवर्तनकारी पक्ष नज़रअंदाज़ हो गये हैं।

ग्रासरूट आंदोलन[8] के मायने

सबसे पहले स्थानीय राजनीति को लें। यहाँ हमने स्थानीय राजनीति का जिस संदर्भ में उल्लेख किया है वह समाज-विज्ञान में प्रयोग किये जाने वाले परम्परागत पद 'पंचायती राज़' से अलग हैं। इस समीक्षा में इसका प्रयोग ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था में आये परिवर्तन के अर्थ में किया गया है, जो अब परम्परागत प्रतिबद्धताओं को छोड़ कर एक प्रतिस्पर्धात्मक माहौल में प्रवेश कर चुकी है। इस संदर्भ में धीरूभाई यह दर्ज करते हैं : भारतीय गाँव एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था थी जिसके भीतर आर्थिक गतिविधियों का संचालन आत्मनिर्भरता के प्रारूप में चलता रहता था, किंतु 1971 के बाद वह एक ऐसा आर्थिक संगठन बन कर रह गया है जिसमें सामाजिक रिश्ते, मालिक-कर्मचारी अर्थात् श्रम और पूँजी के संदर्भ में परिभाषित हो रहे हैं। मिसाल के तौर पर जाति संघर्ष मुख्यत: किसानों की प्रभुत्वशाली जातियों और भूमिहीन मज़दूरों के बीच एक अपरिभाषित संघर्ष बन गया है।[9] यह परिवर्तन किसी राजनीतिक चाल-चलन से निकला परिणाम नहीं, बल्कि आंदोलनकारी संगठन द्वारा राजनीति में सृजित एक नयी जगह के रूप में उभरा है। लेकिन, राजनीतिक दल ख़ुद को ग्रामीण भारत में उभर रहे इन नये मुद्दों के अनुरूप ढालने में सक्षम नहीं हैं। यह एक स्थानीय राजनीति तथा मुख्यधारा की राजनीति के बीच का ख़ालीपन भी है लेकिन ग्रासरूट आंदोलन तथा आंदोलनकारियों ने इनके बीच पड़ने वाले मुद्दों को लगातार सम्बोधित किया है। इन मुद्दों के तहत भूमिहीन लोगों के क़ानूनी अधिकार,वन तथा वनोपार्जन पर आदिवासियों के हक़ तथा गाँव की साझा सुविधाओं में ग़रीबों के अधिकार के संघर्ष को शामिल किया जा सकता है।[10]

आम तौर पर बड़े राजनीतिक संगठन, जिन्हें मुख्यधारा की राजनीति से जोड़ कर देखा जाता है, ग्रासरूट आंदोलन को अराजनीतिक कर्म की श्रेणी में डाल देते हैं। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि ऐसे आंदोलन किसी गठजोड़ का अंग नहीं बन पाते इसलिए उनके बड़े राष्ट्रव्यापी आंदोलन के रूप में उभरने की सम्भावना नदारद रहती है। इसी वजह से राजनीतिक दलों के कार्यकर्ता, बुद्धिजीवी और ज़मीनी स्तर पर काम करने वाले कुछ पर्यवेक्षक स्वयं ही छोटे दलों को राजनीतिक महत्त्व नहीं देते क्योंकि उन्हें ऐसे आंदोलन का कोई राजनीतिक भविष्य दिखाई नहीं देता।[11] उन्हें यह भी लगता है कि इन आंदोलनों की प्रक्रिया सरकार की नीतियों या चुनावी राजनीति पर स्पष्ट असर नहीं डालती। छोटे आंदोलन परम्परागत क्रांतिकारी राजनीति की राय से भी सहमत नहीं है। उनका मानना है कि हर आंदोलन का उद्देश्य राजसत्ता से शुरू हो और उसी से संचालित हो, लेकिन यह मुनासिब नहीं है। इस

---

[8] हालाँकि किताब में 'माइक्रो मूवमेंट' पद का इस्तेमाल किया गया है, लेकिन मैं इस किताब को अभय कुमार दुबे तथा शेठ की किताब *सत्ता और समाज* का दूसरा भाग मानता हूँ. इस आधार पर इसे ग्रासरूट आंदोलन कहा जा सकता है, क्योंकि अभय कुमार दुबे ने शेठ की इस अवधारणा के अनुवाद को ग्रासरूट पद में अनूदित किया है. साथ ही शेठ ने भी यह अंकित किया है कि ग्रासरूट आंदोलन को माइक्रो मूवमेंट कहा जाता है. सुबूत के लिए देखें, अभय कुमार दुबे तथा धीरूभाई शेठ (2001) : 421.

[9] धीरूभाई शेठ (2018) : 100.

[10] अभय कुमार दुबे (2005) : 453.

[11] धीरूभाई शेठ (2018) : 102.

मामले में यह भी ग़ौरतलब है कि राजसत्ता पर क़ब्ज़ा करने के सवाल पर वक़्त से पहले और ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर डालने से राजनीति और समाज परिवर्तन के वास्तविक मुद्दे दब जाते हैं। इसका एक परिणाम यह निकलता है कि संघर्ष की प्राथमिकता पीछे छूट जाती है। राजनीतिक सिद्धांत का हवाला देते हुए धीरूभाई समाजवाद और उदारवादी परम्पराओं से जुड़े हुए समूहों की राजसत्ता पर क़ब्ज़ा करने की धारणा को अतिराजनीतिक क़रार देते हैं। उनका कहना है कि ऐसे संगठनों का यह रवैया उन्हें आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के विकेंद्रीकरण के लिए होने वाले दीर्घकालिक संघर्षों से दूर ले जाता है। इसके लिए आवश्यक यह है कि संगठन के स्वरूप को बदल कर लोक-शक्ति की जागरूकता को राजनीतिक विश्वास के ज़रिये हासिल किया जाए। ज़ाहिर है कि धीरूभाई प्रशासनिक ढाँचे में किये जाने वाले ऊपरी बदलाव को बहुत तवज्जो नहीं देते। उनके अनुसार अगर समाज और संस्कृति में ऐसे परिवर्तन लाए जा सके तो स्वयं राज्य का रूपांतरण हो जाएगा।[12] किंतु राज्य एक ऐसी वैधानिकता के आवरण के साथ अपनी अभिव्यक्ति करता है जिसकी अभिव्यक्ति राष्ट्र के आवश्यक भाव के रूप में होने लगती है। इसी आवरण के चलते दूसरे हिस्से में प्रतिक्रिया पैदा होती है जिससे वैधता और स्वायत्तता के बीच एक अंतर्द्वंद्व पनपने लगता है। उनका कहना है कि राजनीतिक आकलन का सूत्र आज़ादी के संघर्षों में खोजने के बजाय वर्तमान की सामाजिक संरचना के आंतरिक परिवर्तन तथा बाज़ारवाद के सांस्कृतिक नतीजों पर ज़्यादा ध्यान दिया जाना चाहिए। धीरूभाई के अनुसार लोकशाही समाज की हर समस्या का निवारण नहीं कर सकती। उन्हें यह भी लगता है कि राज्य की विफलता और सरकारों की आवाजाही के प्रसंग में बार-बार राष्ट्र का उल्लेख करना लोकतंत्र की समस्या का प्रकार न हो कर उसके संकट की सूचना देता है।

राजनीतिक वैधता, प्राधिकार तथा स्वायत्तता का अंतर्द्वंद्व

राजनीतिक वैधता[13] राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया से संबंधित है। वह एक ऐसी ऐतिहासिक मानसिकता की उपज है जिसका दोहरा असर होता है। औपनिवेशिक राज्य की संरचना पर ध्यान दें तो अंग्रेज़

[12] धीरूभाई शेठ (2018) : 102. साथ ही देखें, अभय कुमार दुबे (2009) : 457.

[13] यद्यपि राजनीतिक वैधता तथा वैधीकरण को लेकर लोकतंत्र में सवाल होते रहते हैं, लेकिन यह सही मायने में समस्या के बारे में नहीं बल्कि संकट की तरफ़ इशारा करता है, जैसा कि हैबरमास का मानना है कि वैधता एक ऐसा दावा है जिसकी अभिपुष्टि पर विचार किया जा सकता है. वैधता प्राप्त करने की प्रक्रिया में एक पक्ष अपनी वैधता पर ज़ोर देता है और दूसरा पक्ष इससे इनकार करता है. इस तरह वैधता की समस्या एक राजनीतिक व्यवस्था की स्थायी समस्या बन जाती है. देखें, युरगन हैबरमास (1979) : 178-179.

प्रभुओं में राजनीतिक वैधता को लेकर उत्सुकता विद्यमान थी। दूसरी ओर पश्चिमी संस्कृति और शिक्षा पर पले-बढ़े भारत के अभिजन भी इसके हिमायती थे। उनकी यह चाहत समाज और सामाजिक अनुभवों को लाचारी की निगाह से देखती थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय राज्य समाज का अभिभावक बन गया और समाज उसके सामने एक ऐसा उद्दण्ड समूह जिसे अनुशासित करने की ज़रूरत थी।

यह प्रक्रिया ऐतिहासिक भिन्नता की ओर ले जाती है। मसलन, राज्य अपनी हर गतिविधि को सेकुलर ढाँचे में फिट करने लगा और राज्य की नज़र में समाज साम्प्रदायिक हो गया। दूसरी भिन्नता राज्य की लोकतांत्रिक प्रक्रिया से जुड़ी हुई है, जबकि समाज उसकी नज़र में ग़ैर-लोकतांत्रिक हो गया है। तीसरी भिन्नता राष्ट्रवाद के पक्ष की है जहाँ राज्य भारतीय समाज को समरूपीकृत ढाँचे में ढाल कर एक ख़ास तरह की राजनीतिक कल्पना से परिभाषित करना चाहता है। सच्चाई यह है कि भारतीय समाज किसी भी तरह के समरूपी सिद्धांत की बात करने वाले राष्ट्र या राष्ट्रवाद जैसे विचार या विचारधारा से न पहले बँधने को तैयार था, न आज है। इस प्रक्रिया में राज्य का दोहरा चरित्र भी नज़र आता है। जिसमें समरूपीकरण करने के लिए कल्याणकारी चरित्र और इसका विरोध करने पर बल आधारित प्रक्रिया का सहारा लेने का चरित्र सामने आता है। भारतीय समाज विविधता की प्रकृति के साथ अपनी पहचान बनाता है। जिसे लेखक धर्म, जाति और नृजातीयता के द्वारा संचालित तथा बँटा हुआ मानते हैं।[14]

ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में लोकतंत्र औपनिवेशिक सत्ता के ख़िलाफ़ उभरे राष्ट्रीय आंदोलन की उपज माना जाता है। धीरूभाई भी इस बात से इनकार नहीं करते, लेकिन वर्तमान परिदृश्य में लोकतंत्र को राष्ट्रीय आंदोलन की संतान मानते रहने से हम कहीं नहीं पहुँचते। इसका मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि राष्ट्रीय आंदोलन का कोई भी अनुभव आज हमारे किसी काम का नहीं है; लेकिन लेख के ज़रिये हम यह अर्ज़ करना चाहते हैं कि लोकतंत्र के विश्लेषण हेतु इतिहास के क़सीदे पढ़ने से बेहतर यह होगा कि हम लोकतंत्र की हक़ीक़त को सामाजिक परिवर्तन के कोण से परखें क्योंकि अभी तक हम लोकतंत्र और आज़ादी के आपसी संबंधों का पर्याप्त निरूपण नहीं कर पाए हैं।[15] भारत में आज भी ऐसे लोगों की संख्या अच्छी-ख़ासी है जो लोकतांत्रिक अधिकारों की मौजूदगी को नाकाफ़ी मानते है। उनकी यही असंतुष्टि हमें राजनीतिक संकट की ओर ले जाती है।

धीरूभाई इस संकट तथा समस्या के शाब्दिक भाव को समझने की आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं, क्योंकि हर प्रकार की समस्या को संकट के तौर पर परिभाषित नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो रोज़मर्रा के जीवन से जुड़ी समस्याओं को संकट के तौर पर नहीं समझा जा सकता। उनके अनुसार व्यवस्थामूलक समस्याओं को हल न कर पाना ही संकट की ओर ले जाता है। धीरूभाई इस प्रक्रिया की कई परतों को उजागर करते हैं। यह संकट समाज के अंदर व्याप्त समस्याओं के स्थायीपन से उत्पन्न हुआ है। इसका एक कारण राजनीतिक सत्ता तथा समाज के बीच अन्योन्यक्रिया की अनुपस्थिति में देखा जा सकता है। धीरूभाई आपातकाल की राजनीतिक घटना का हवाला देकर कहते हैं कि आपातकाल के बाद राजनीतिक हालात पर चर्चा में व्यक्तियों या फिर फ़ौरी राजनीतिक घटनाक्रम पर ज़ोर दिया गया जिससे यह प्रतीत होने लगा कि जैसे राजनीति का समाज तथा उसके मूल्यों तथा सत्ता के बँटवारे से कोई ताल्लुक़ ही नहीं है। उनके मुताबिक़ समस्याओं के प्रति इस असावधानी ने राजनीतिक संकट का रूप धर लिया है।[16]

[14] धीरूभाई शेठ : 56.

[15] आशिस नंदी (2002) : 195.

[16] हालाँकि धीरूभाई शेठ के लिए आपातकाल ही राजनीतिक संकट का उदाहरण नहीं है. इसके अलावा कई उदाहरणों को पुस्तक में स्थान दिया गया है, लेकिन आपातकाल एक ऐसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन का भाग अवश्य है जो भारतीय समाज में आंतरिक परिवर्तन का कारण बनने के साथ ही राजनीतिक प्राधिकार के संकट का भी कारण रहा है. देखें, शेठ. (2018) : 50. धीरूभाई शेठ के इस अध्याय 'क्राइसिस ऑफ़ पॉलिटिकल अथॉरिटी' को अभय कुमार दुबे के शब्दों में केवल एक चेतावनी के तौर पर ही लेने की आवश्यकता है. देखें, अभय कुमार दुबे तथा शेठ (2002) : 30.

यहाँ राजनीतिक संकट का अभिप्राय राजनीतिक प्राधिकार से है। राजनीतिक प्राधिकार का यह संकट आपातकाल के निर्णय में ही निहित था। बाद में वह भारतीय लोकतंत्र की शिराओं में प्रवेश कर गया और वह एक ऐसे चौराहे पर आकर खड़ा हो गया जहाँ से एक रास्ता जनता को चुनावी भागीदारी के ज़रिये राजनीतिक प्राधिकार दिलाने की तरफ़ जाता है। लेकिन प्राधिकार सुनिश्चित करने की यह प्रक्रिया नाकाफ़ी है क्योंकि यह प्राधिकार न तो अपने ख़िलाफ़ व्यवस्था के अंदर से फूटने वाले संरचनागत प्रतिरोध का सामना कर पाता है और न ही जनता के क्षोभ से निपट पाता है।[17] दूसरा रास्ता लोकलुभावनवाद की रणनीति की तरफ़ जाता है। हालाँकि इस रणनीति का भारतीय लोकतंत्र में ख़ासा स्थान रहा है, लेकिन इस रणनीति का परिणाम यह हुआ कि जनता और सत्तारूढ़ राजनीति के बीच का बफ़र-ज़ोन ग़ायब हो गया है। तीसरा रास्ता सरकारी कामकाज और नीति निर्धारण से जुड़े वैधता के दावों तथा वैधानिक चौखटों के बाहर से मिलने वाली चुनौती की तरफ़ जाता है। धीरूभाई इसकी शिनाख़्त एक संकट के रूप में करते हैं। लेखक का मानना है कि आपातकाल की घटना के बाद राजनीतिक प्राधिकार किसी भी चुनाव से वैधता हासिल नहीं कर पाया है।[18] चौथे रास्ते का संबंध उन अलगावों से है, जो मध्यवर्ग तथा जनता के बीच उभर रहे हैं। यह स्थिति अब आर्थिक और सामाजिक दायरों से आगे बढ़कर सांस्कृतिक क्षेत्र में भी घुसपैठ कर चुकी है। और इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रभु वर्गों तथा आम जनता के बीच राजनीतिक वैधता को लेकर होने वाला संवाद बंद हो गया।[19] ज़ाहिर है कि अब संस्थागत लोकतंत्र को अपना आधार पार्टी और चुनाव के परे जाकर नागरिक समाज में विकसित करना होगा। उसे समाज के संरचनात्मक परिवर्तन से उभरे तथा व्यापक सार्वजनिक दायरे में विकसित हुए नये तरह के संगठनों से वैधता प्राप्त करनी होगी।[20]

नागरिक समाज की हसरतें

नागरिक समाज से लोकतंत्र के संबंध और लोकतंत्र के प्रति नागरिक समाज के रुझान को कैसे समझा जाए? इस संबंध में धीरूभाई शेठ की कृति के दो अध्यायों— 'सिविल सोसाइटी ऐंड नॉन पार्टी पॉलिटिकल फ़ार्मेशन' तथा 'लॉ ऐंड द आउट कास्ट्स ऑफ़ डिवेलपमेंट' पर विचार करना समीचीन होगा। इन पाठों में धीरूभाई नागरिक समाज के ऐतिहासिक आधार पर दृष्टिपात करते हुए इसके अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य पर नज़र डालते हैं। नागरिक समाज की पड़ताल में वे शीत-युद्ध का हवाला देते हैं और उसे सोवियत बौद्धिक तथा राजनीतिक असंतुष्टि के बीच अवस्थित करते हैं। भारत में नागरिक समाज औपनिवेशिक आधुनिकता का शिशु है।[21] भारत के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में नागरिक समाज का विकास तीन रूपों में देखा जा सकता है। एक, राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान। दूसरा, जयप्रकाश नारायण के आंदोलन के दृष्टिकोण तथा तीसरा उत्तर वैश्वीकरण के काल में।[22]

धीरूभाई नागरिक समाज को आंदोलन के नज़रिये से देखते हैं। इसमें एक्टिविस्ट की भूमिका महत्त्वपूर्ण दिखाई गयी है। वे नागरिक समाज के स्थान पर लोकायन द्वारा प्रयोग किये गये शब्द 'नॉन-पार्टी पॉलिटिकल फ़ॉर्मेशन' का प्रयोग करते हैं जिसमें लोकतंत्र को दलीय राजनीति की प्रतिस्पर्धा के परे ज़मीनी स्तर पर चलने वाले रोज़मर्रा के संघर्षों में परिभाषित किया गया है। इसमें उदाहरण के तौर पर नेशनल अलायंस ऑफ़ पीपुल मूवमेंट और मानुषी मूवमेंट को शामिल किया गया है। धीरूभाई

---

[17] धीरूभाई शेठ (2018) : 51.
[18] वही : 53.
[19] वही : 54.
[20] वही : 65.
[21] यह तजवीज़ शेठ ने औपनिवेशिक आधुनिकता के आवरण में राज्य तथा नागरिक समाज के संबंधों के अनुरूप दी है. देखें, शेठ (2018) : 73. साथ ही देखें, नीरा चण्डोक (2005) : 74.
[22] धीरूभाई शेठ (2018) : 74-75.

इक्कीसवीं सदी को लेकर धीरूभाई की चिंता बेहद संजीदा मालूम होती है। ... वे भारतीय राजनीति में 1989–2009 की अवधि में होने वाले बदलाव को व्यवस्थित परिवर्तन का दौर मानते हैं। उन्हें इक्कीसवीं शताब्दी के मुहाने पर सिर्फ़ दो बिंदु दिखते हैं। एक गठबंधन की राजनीति और दूसरा भारतीय लोकतंत्र की राजनीतिक अर्थव्यवस्था का उदारवाद से जुड़ाव।

शेठ ने भारतीय समाज में आधुनिकता और हिंसा के नाते पर भी ध्यान दिया है। वे दिखाते हैं कि किस तरह विकास की पूरी अवधारणा आम जन के पलायन का पर्याय बन जाती है। यहाँ धीरूभाई शेठ ने हक़ीक़त से जुड़ा एक अफ़साना पेश किया है। सिंगरौली ज़िले के आदिवासियों का पलायन लेखक के अफ़साने का मुख्य क़िरदार है। जिसकी पूरी कहानी भूमि–अधिग्रहण से शुरू होती है जिसमें राज्य स्थान विशेष के आधार पर अपने क़ानूनी व्यवहार को बदलता नज़र आता है। मसलन, राज्य सामान्य तौर पर जब किसी भी प्रकार की ज़मीन का अधिग्रहण करता है तो उसके पीछे यह तर्क देता है कि यह सार्वजनिक हित के लिए किया जा रहा है। चाहे वह मंदिर के नाम पर हो या मस्जिद के नाम पर लेकिन उसके व्यवहार में बदलाव तब देखा जाता है जब वह आदिवासियों के क्षेत्र में ज़मीन का अधिग्रहण करता है। इसके पीछे तर्क यही दिया जाता है कि यह अधिग्रहण सार्वजनिक हित के लिए किया जा रहा है। लेकिन यह सार्वजनिक हित का यह तर्क तब औंधा हो जाता है जब आदिवासी समुदाय का जीवन पलायन तथा रोज़मर्रा की लड़ाइयों में भिंच जाता है।[23] वहाँ 'नॉन–पार्टी पॉलिटिकल फ़ार्मेशन' की भूमिका राज्य के इन गतिविधियों के ख़िलाफ़ एक औज़ार के रूप में काम आती है। इसे रजनी कोठारी 'राज्य के विरुद्ध लोकतंत्र' के रूप में देखते हैं।[24] यह प्रक्रिया सिर्फ़ आदिवासियों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि जाति समीकरणों में भी देखी जा सकती है।

सामाजिकता और लोकतंत्र

भारत में जाति समीकरण के हमेशा से दो पक्ष रहे हैं। एक तरफ़ तो जाति के राजनीतीकरण की प्रक्रिया से राजनीतिक जागरूकता का निर्माण किया जाता है जिसका संबंध सत्ता की प्राप्ति तथा उसकी गढ़ंत से जुड़ी प्रक्रिया से है। वह जाति को एक सेकुलर मसले की तरह पेश करती है और साथ ही उसे कर्मकाण्डीय दर्जे से काट कर अलग कर देती है। परिणामस्वरूप जाति की यह भूमिका स्पर्धात्मक लोकतांत्रिक राजनीति में सत्ताकांक्षी समूह के रूप में परिभाषित होने लगती है।[25] भारतीय अर्थव्यवस्था

[23] धीरूभाई शेठ (2018) : 110.
[24] रजनी कोठारी (1989).
[25] धीरूभाई शेठ (2018) : 128.

के इस आधुनिकीकरण और भारतीय लोकतांत्रिक संस्थाओं के लोकतंत्रीकरण से समाज में नयी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का जन्म होता है। इस कारण समाज की व्यवस्थामूलक संरचना में भी बुनियादी परिवर्तन हुए हैं। मसलन, किसी ज़माने में एक निश्चित व्यवसाय से बँधे समूहों में अब एक परिवर्तन यह आया है कि उनमें ग़ैर-पारम्परिक पेशों और नये तरह के सामाजिक संबंधों का बोलबाला होता जा रहा है। सामाजिक संबंधों का यह बदलाव सिर्फ़ भिन्न-भिन्न जातियों के बीच ही नहीं बल्कि एक जाति के अंदरूनी स्तरों पर भी दिखाई देता है। जाति की यह चेतना अब समूहों की राजनीतिक चेतना के रूप में सामने आ रही है। यह चेतना सामाजिक राजनीतिक संरचना में अपने लिए अवसरों की तलाश करती है। इस प्रक्रिया में वह सत्ता की दावेदारी भी करती है। यह परिवर्तन एक नये मध्यवर्ग का निर्माण करता है। जाति तथा वर्ग की इस परिवर्तित प्रकृति को धीरूभाई अपनी केंद्रीय अवधारणा के रूप में गढ़ते हैं। उनका कहना है कि अपनी-अपनी जातियों के सामूहिक संसाधनों का इस्तेमाल करने के बाद जाति के सदस्य व्यक्ति के रूप में मध्यवर्ग के दायरे में क़दम रखते हैं। दूसरे, उनके आर्थिक हित और जीवन-शैली अपने ग़ैर-मध्यवर्ग जाति समुदायों के मुक़ाबले मध्यवर्ग के अन्य सदस्यों से ज़्यादा मेल खाती है।[26] हालाँकि मध्यवर्ग की अवधारणा औपनिवेशिक शासन के दौरान ही पाँव पसारने लगी थी। किंतु लेखक यहाँ 'नया' शब्द इसलिए जोड़ते हैं कि यह न तो जाति की शब्दावली में परिभाषित किया जाता है, न ही इसे शुद्ध रूप से वर्ग की शब्दावली में व्याख्यायित किया जाता है। इसका उद्‌भव सीधे-सीधे जाति व्यवस्था के बिखराव की ओर संकेत करता है। इस नयेपन ने मध्यवर्ग को पहले से कहीं अधिक विविध बना दिया है। इसके पहले का मध्यवर्ग यानी आज़ादी के समय इस वर्ग पर द्विजों की चौधराहट थी। लेकिन अब इस स्थिति में व्यापक परिवर्तन हो चुका है।[27]

लेकिन सामाजिक परिवर्तन के बावजूद सामाजिक न्याय का मसला अटका हुआ है। भारत के अनेक राज्यों में होने वाली सामाजिक हिंसा की घटनाओं के मामले में न राज्य सुरक्षा की गारंटी देता नज़र आता है, न राजनीतिक दल। इस मामले में एक्टिविस्टों की कार्रवाइयों को राज्यवादी मानसिकता के तहत दरकिनार कर दिया जाता है। उदाहरण के तौर पर गुज़रात के ऊना ज़िले की कहानी, भीमा कोरेगाँव की हिंसा, जाति के नाम पर बन रही सेनाओं तथा अल्पसंख्यक समुदाय की असुरक्षा का गम्भीर होते माहौल, गौ-रक्षा के नाम पर आम दलितों की हत्या जैसी घटनाएँ दिखाती हैं कि इस हिंसा को निर्मूल करने में राज्य का ढाँचा अक्षम होता गया है। ऐसी घटनाओं को रोकना समाज की साझी ज़िम्मेदारी है, लेकिन वर्तमान में यह समाज मूकदर्शक बन कर रह गया है। सामाजिक न्याय भारतीय समाज की असमानता को समाप्त कर एक समतामूलक समाज बनाने का दावा करता है, लेकिन उसका यह दावा कहीं पीछे छूट चुका है। आज सामाजिक असमानता ही राजसत्ता हासिल करने का आधार बन गयी है। यह केवल राजनीतिक प्राधिकार के संकट की तरफ़ ही नहीं, बल्कि राजनीतिक विश्वास के दरकते ढाँचे की ओर भी संकेत करता है।

विवेचनात्मक निष्कर्ष की ओर ...

निष्कर्ष के तौर पर इस पुस्तक के बारे में कोई अंतिम वाक्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह पुस्तक इतिहास, समाज तथा राजनीति की गहरी छानबीन करते हुए समाज और लोकतंत्र के बीच संवाद की ज़मीन तैयार करते हुए गहरे संवाद और शोध का परिचय देती है। मेरी दृष्टि में किसी भी पुस्तक के प्रकाशन की सार्थकता केवल इस बात में नहीं है कि वह विषय से जुड़े कितने सवालों का उत्तर देती है, बल्कि उसका एक प्रकार्य यह भी होता है कि वह कितने नये सवालों को जन्म देती है। इसी क्रम

[26] धीरूभाई शेठ (2018) : 143. साथ ही देखें, अभय कुमार दुबे (2008) : 164.

[27] अभय कुमार दुबे (2008) : 164. साथ ही देखें, धीरूभाई शेठ (2018) : 142.

में यहाँ पुस्तक की कुछ ख़ामियों और ख़ूबियों को बिंदुबद्ध करने का प्रयास किया गया है :

➔ पुस्तक का आवरण मुख्य शीर्षक *एट होम विद डेमॉक्रैसी और उपशीर्षक अ थियरी ऑफ़ इंडियन पॉलिटिक्स* को मिला कर पूरा होता है। इसकी प्रस्तावना में पीटर डिसूज़ा पुस्तक के शीर्षक को लेकर अत्यंत सजग टिप्पणी करते हैं। उन्होंने उप-शीर्षक का विस्तृत विवरण दिया है जिससे किताब का मनसूबा काफ़ी हद तक साफ़ हो जाता है, लेकिन इससे यह तय नहीं हो जाता कि मुख्य शीर्षक को परिभाषित करने की आवश्यकता ही नहीं है। कोई भी पाठक यह ज़रूर जानना चाहेगा कि *एट होम विद* का क्या आशय है? और इस पुस्तक के लिए इस शब्द का प्रयोग क्यों आवश्यक है? तथा इस समझ का आधार क्या है?

➔ पीटर डिसूज़ा भारतीय लोकतंत्र का समतावादी सिद्धांत की तर्ज़ पर आकलन करते हैं। यह निश्चित तौर पर भारतीय लोकतंत्र को समझने का एक विशेष पक्ष है। डिसूज़ा इस समझ की प्रक्रिया को औपनिवेशिक मानसिकता, डेरिवेटिव डिस्कोर्स तथा साम्राज्यवादी वर्गीकरण से परे ले जाते हैं (पृ. 6)। लेकिन इसमें एक चर्चा यह भी शामिल की जा सकती थी कि भारतीय राजनीतिक सिद्धांत का आधार क्या है? वह अपने पूर्व के सैद्धांतिक दावों से किस प्रकार भिन्न है? हालाँकि पीटर डिसूज़ा ने इन दावों के लिए 'एप्रोप्रिऐट लेबल एब्स्ट्रैक्शन'(पृ. 6) का इस्तेमाल करते हैं, लेकिन पुस्तक में यह कहीं पर भी परिभाषित नहीं किया गया है कि इस एब्स्ट्रैक्शन को कैसे और किस आधार पर समझा गया है।

➔ पीटर डिसूज़ा अपनी प्रस्तावना में कहते हैं कि भारतीय राजनीतिक सिद्धांत का विमर्श अध्याय-15 से प्रारम्भ होता है (पृ. 7)। इससे न केवल 15 से पहले वाला अध्याय ज़टिल हो जाता है, बल्कि उपशीर्षक में व्यक्त सिद्धांत के दावों पर भी प्रश्न-चिह्न लग जाता है। भारतीय राजनीतिक सिद्धांत से पुस्तक के लेखक और प्रस्तावना के लेखक की क्या मुराद है इसकी विस्तृत चर्चा पुस्तक में अनुपस्थित है। मेरे ख़्याल से यह पुस्तक के लिए एक महत्त्वपूर्ण बिंदु हो सकता था।

➔ पुस्तक की केंद्रीय सामग्री के रूप में आंदोलन या ग्रासरूट आंदोलन का ज़िक्र बेहद दिलचस्प है। लोकतंत्र को समझने तथा उसकी बारीकी का विश्लेषण करने में वह बेहद उपयोगी भी है। इस पूरे विश्लेषण में एक्टिविस्ट की भूमिका पर विशेष बल दिया गया है; लेकिन पुस्तक में इसका विशेष उल्लेख नहीं किया गया है कि इन एक्टिविस्टों का सामान्य जन से जुड़ाव का स्तर किस प्रकार का होता है, या सामान्य जनता का उनके प्रति किस प्रकार का रवैया रहता है। यह ग्रासरूट की समझ तथा लोकतंत्र के साथ इसके रिश्ते को समझने में एक ज़रूरी विमर्श हो सकता था। इस संदर्भ में लेखक पृ.102 पर लिखते हैं कि 'ग्रासरूट से जुड़े पर्यवेक्षक छोटे दलों को राजनीतिक महत्त्व नहीं देते, क्योंकि उनका कोई राजनीतिक भविष्य नहीं है। दूसरी तरफ़ आंदोलन की प्रक्रिया सरकार की नीतियों या चुनावी राजनीति पर स्पष्ट असर नहीं डालती।' लेखक ने यह एक महत्त्वपूर्ण बिंदु उठाया है; लेकिन उनके विश्लेषण से यह पता नहीं चलता कि छोटे आंदोलनों का मुख्यधारा की राजनीति का हिस्सा न बन पाने के पीछे कौन से कारण मौजूद हैं? उदाहरण के तौर पर भारत में पर्यावरण आंदोलन एक ऐसा बृहत आंदोलन है जो ग्रासरूट स्तर से लेकर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर तक फैला है। उसका जुड़ाव बेहतर जीवन की अभिलाषा से भी है। लेकिन इसकी क्या वजह है कि वह क़ानून और नियम का हिस्सा तो बन गया है लेकिन चुनावी राजनीति के लिए वह कोई मुद्दा ही नहीं है। इस प्रकार के बहुतेरे आंदोलनों को पुस्तक में शामिल किया जा सकता था। मेरे ख़याल से लेखक जिन पृष्ठों (97 से लेकर 100 तक) पर ग्रासरूट आंदोलन के उद्भव की कहानी बयान की है, वहाँ कुछ और उदाहरण शामिल किये जा सकते थे। और अगर उन उदाहरणों को तात्कालिक राजनीति से जोड़ कर देखने का प्रयास किया जाता तो ज़्यादा बेहतर होता।

➔ लेखक ने पूरी पुस्तक में ग्रासरूट पद का ही इस्तेमाल किया है, जबकि मेरे विचार में उन्हें यह भी स्पष्ट करना चाहिए था कि क्या यह सामाजिक आंदोलन से कोई अलग प्रकार का पद है?

यदि इसका कोई अलग अभिप्राय है तो उन्हें इस पद की समानता या भिन्नता का आधार भी स्पष्ट करना चाहिए था। इस बिंदु पर कम से कम एक पाद-टिप्पणी या फिर एक पैराग्राफ़ आवश्यक था।

➔ पुस्तक के कालक्रम और विवरणों पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए था। मसलन, पुस्तक की प्रस्तावना में 2014 के चुनावी बदलाव पर कुल जमा चार पृष्ठ शामिल किये गये हैं। पुस्तक के अध्यायों में 2009 के बाद का विश्लेषण बहुत कम है। किताब 2018 में प्रकाशित हुई है। शोध की दृष्टि से लगभग एक दशक की यह अनुपस्थिति बेहद खटकती है। पीटर डिसूज़ा भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ (अन्ना आंदोलन) आंदोलन का ज़िक्र करते हैं, लेकिन इस आंदोलन के परिणाम को विश्लेषण का एक स्वतंत्र विषय बनाया जा सकता था। इस तरह, पुस्तक की प्रस्तावना और उसके अध्यायों में एक तरह की विसंगति दिखाई देती है।

➔ इक्कीसवीं सदी को लेकर धीरूभाई की चिंता बेहद संजीदा मालूम होती है। पुस्तक में एक विशेष लेख 'इंटरिंग द ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी : चेंज इन नेशन पॉलिटिक्स ऐंड डिस्कोर्स' शामिल किया गया है। धीरूभाई भारतीय राजनीति में 1989-2009 की अवधि में होने वाले बदलाव को व्यवस्थित परिवर्तन का दौर मानते हैं। उन्हें इक्कीसवीं शताब्दी के मुहाने पर सिर्फ़ दो बिंदु दिखते हैं। एक गठबंधन की राजनीति और दूसरा भारतीय लोकतंत्र की राजनीतिक अर्थव्यवस्था का उदारवाद से जुड़ाव। ये दोनों बिंदु अत्यंत आवश्यक हैं, लेकिन चूँकि लेखक राजनीतिक-समाजशास्त्री है इसलिए उनकी इतनी ज़िम्मेदारी बनती थी कि वे इस पहलू पर भी दृष्टिपात करते कि इस सदी में समाज और लोकतंत्र के रिश्ते कैसे परिवर्तित हो रहे हैं।

➔ पुस्तक में सोलहवाँ अध्याय— 'डेमाक्रैटिक ग्लोबल गवर्नेंस : अ मिनिमलिस्ट पर्सपेक्टिव' एक अन्य विसंगति की तरह दिखाई देता है, क्योंकि प्रथम अध्याय से लेकर चौदहवें अध्याय तक कहीं पर यह अहसास नहीं कराया गया है कि समस्त विश्लेषणों को वैश्विक स्तर से जोड़ा जाएगा। 16 से पहले के पाठों में कहीं पर भी वैश्विक संदर्भ का ज़िक्र नहीं किया गया है। यह अध्याय पुस्तक की संरचना में एक अवरोध साबित होता है।

➔ पुस्तक में व्याकरण के नज़रिये से भी कुछ अशुद्धियाँ दिखाई देती हैं। मसलन, पुस्तक के केंद्रीय प्रश्न (पृ. 8) में 'व्हाट डेमॉक्रैसी इन डूइंग टू इंडिया' की जगह 'व्हाट डेमॉक्रैसी इज़ डूइंग टू इंडिया' होना चाहिए।

संदर्भ

अभय कुमार दुबे (सं.)(2009), *सत्ता और समाज : धीरूभाई शेठ,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

आशिस नंदी (2002), 'नयी राजनीतिक संस्कृति', अभय कुमार दुबे (सं.), *लोकतंत्र के सात अध्याय,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

धीरूभाई शेठ (2018), *एट होम विद डेमॉक्रैसी : अ थियरी ऑफ़ इंडियन पॉलिटिक्स,* पालग्रेव मैकमिलन, नयी दिल्ली.

नीरा चण्डोक (2005), *स्टेट ऐंड सिविल सोसाइटी : एक्सप्लोरेशन इन पॉलिटिकल थियरी,* सेज़ पब्लिकेशन, नयी दिल्ली.

युरगन हैबरमास (1979),'लेज़िटिमेशन प्रॉब्लम इन मॉडर्न स्टेट', *कम्युनिकेशन ऐंड द एवोल्यूशन ऑफ़ सोसाइटी,* हाइनमान, लंदन.

रजनी कोठारी (1989), *स्टेट अगेंस्ट डेमॉक्रसी : इन सर्च ऑफ़ ह्यूमन गवर्नेंस,* अपेक्स, नयी दिल्ली.